## वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल ७, रविवार

## दि.३०-१-१९६६, गाथा १, प्रवचन नं.-१२

'दौलतरामजी' कृत तीसरी ढाल है। इसमें पृष्ठ ४३ है। अन्तिम आता है, देखो ! **'मोक्षमार्ग का दो प्रकार से विचार करना चाहिए...'** यह शब्दार्थ है ? मोक्षमार्ग जो है, आत्मा को पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का कारण – ऐसा मोक्ष का मार्ग। मार्ग कहो या उपाय कहो या कारण कहो। आत्मा पवित्र शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसकी पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, पूर्ण सुख की, शान्ति की प्राप्ति (होना), उसका नाम मोक्ष है। उस मोक्ष का उपाय कहो, कारण कहो, मार्ग कहो – वह कहते हैं कि दो प्रकार से विचार करना – ऐसा इसमें लिखा है।

विचार करना अर्थात् दो प्रकार से उसे जानना। उसमें **'जो सत्यार्थरूप वास्तविक स्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है।'** उनके शब्द में ही है, देखो ! समझ में आया ? क्योंकि यह आत्मा अन्तर्मुख दृष्टि करने से, अन्तरस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और लीनता होने पर उसे निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। समझ में आया ? अनादि से जो बहिर्मुख दृष्टि है, शुभ-अशुभ आदि क्रियाकाण्ड, दया, दान, व्रतादि सब बहिर्मुख वृत्ति है। उसे जब पहला आत्मस्वभाव, उसके अन्तर्मुख का स्व आश्रय ले, चिदानन्द पूर्ण शुद्ध आनन्द ज्ञायकभाव है, उसका प्रथम आश्रय ले, तब उसे निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। देखो ! इसलिए निश्चय प्रथम कहा है और व्यवहार कथन में दूसरी बात बाद में ली है। समझ में आया कुछ ?

निश्चयमोक्षमार्ग सत्यार्थरूप है। सत् स्वरूप जो आत्मा, शुद्ध आनन्दकन्द ज्ञायक, उसका स्वआश्रय, अन्तर्मुख... अन्तर्मुखदृष्टि हुई और जो ज्ञान तथा स्थिरता होती है, उसका नाम सत्यार्थ, सच्चा, मुख्य, परमार्थ मोक्षमार्ग कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? अथवा उसे शुद्ध मोक्षमार्ग कहा जाता है। सत्यार्थ कहो, शुद्ध कहो या सत्यार्थ को यहाँ मुख्य कहो, क्योंकि स्वयं आगे लेंगे। अन्तिम गाथा है, भाई ! अन्तिम गाथा। मुख्य-उपचार ! वहाँ

भी मुख्य पहले और उपचार बाद में लेंगे। छहढाला में अन्त में (छठवीं ढाल में) १४वीं गाथा में है। मुख्य-उपचार, समझ में आया ? मुख्य कहो या निश्चय कहो या सत्यार्थ कहो या शुद्ध कहो। आत्मा अन्तर चिदानन्द प्रभु, अन्तर की शक्ति का अवलम्बन । स्व सत् स्वरूप पूर्णानन्द को अन्तर में अवलम्बन कर, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होवे, वह सच्चा मार्ग है, वह शुद्ध-पवित्र मार्ग है, मुख्य मार्ग है, वही यथार्थ अनुपचार मोक्षमार्ग है। कहो, है इसमें ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, है या नहीं इसमें ? इसीलिए तो मुख्य-उपचार का दृष्टान्त दिया, अन्तिम ढाल का; चौदहवीं गाथा है। अन्तिम, अन्तिम (ढाल) की चौदहवी (गाथा) है। देखो ! यह अन्त में स्वयं समाप्त करते हुए लेंगे। देखो ! पन्द्रहवीं एक बाकी रहेगी। सोलहवीं तो... है। समझ में आया ? वह तो ग्रन्थरचना का (काल कहा है।) चौदहवीं में है, देखो ! **'मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागी रत्नत्रय धरै...'** है ? मुख्य उपचार । मुख्य अर्थात् निश्चय, मुख्य अर्थात् निश्चय - यह सिद्धान्त भी यहाँ डाल दिया है, भाई ! निश्चय अर्थात् मुख्य - ऐसा नहीं; मुख्य अर्थात् निश्चय - ऐसा सिद्धान्त भी डाल दिया। मुख्य-उपचार दो भेद। उपचार अर्थात् आरोपित; मुख्य अर्थात् उचित, यथार्थ। उपचार अर्थात् आरोपित व्यवहार, निमित्तरूप से हो वह। दो भेद। **'बड़भागी रत्नत्रय धरै; अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश चल जग मल हरैं।'** कहो समझ में आया ?

इसलिए कहा है कि भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द की ध्रुव धातु, ध्रुव.. ध्रुव... चैतन्य ध्रुव धातु अर्थात् जिसने चैतन्यपना, शुद्धपना, ध्रुवपना, आनन्दपना ध्रुवरूप से धारा है अर्थात् टिकाया है - ऐसे द्रव्य का अवलम्बन करके, स्व सत् स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-स्थिरता होवे, उसे ही मुख्य, शुद्ध, निश्चय, सत्यार्थ, यथार्थ मोक्षमार्ग कहते हैं।

अब (कहते हैं) **'जो निश्चयमोक्षमार्ग का निमित्तकारण है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।' 'कारण सो व्यवहारो '** - ऐसा कहा है न ? **'कारण सो व्यवहारो'** - ऐसा शब्द पड़ा है। **'कारण सो व्यवहारो।'** उसमें पीछे 'उपचार' कहा था। उसके साथ जो निमित्तकारण

है अथवा मुख्य, वह निश्चय कहा; इसलिए गौण, वह व्यवहार कहा। शुद्ध, उसे निश्चय कहा तो यह अशुद्ध है, उसे व्यवहार कहा। समझ में आया ? शुद्धस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से प्रकट हुई शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र को शुद्ध मोक्षमार्ग कहा तब जो विकल्प - रागादि है, उसे अशुद्ध मोक्षमार्ग कहा। अशुद्ध मोक्षमार्ग कहा, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा, उपचार मोक्षमार्ग कहा, असत्यार्थ मोक्षमार्ग कहा, गौण मोक्षमार्ग कहा। समझ में आया ? **'उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।'** लो ! इन शब्दों में ही इतना तो निकलता है। भाई ! निकलता है या नहीं इसमें ? पीछे है या नहीं ? ऐ..ई ! है ? दूसरे लड़कों ने (पुस्तक) रखें हैं या नहीं ?

अब, इसका भावार्थ। यहाँ तो क्या बात सिद्ध करनी है ? कि पहले आत्मज्ञान हुए बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता। आत्मा, जो शुद्ध स्वरूप से है, पवित्र है, उसे अन्तर में पकड़े बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता अर्थात् श्रुतज्ञान (नहीं) होता अर्थात् भाव श्रुतज्ञान परिणमित नहीं होता। वह वस्तु ज्ञान-स्वरूप है न ? तो ज्ञान तो गुण है, परन्तु उस गुण का त्रिकालपना है, उसे अन्तर में अवलम्बन कर जो भावश्रुत (ज्ञान) परिणमित होता है, भले मतिज्ञान के साथ ही होता है। समझ में आया ? अभी अवधि, मन:पर्यय, केवल की जरुरत नहीं है यहाँ तो पहले भावश्रुत(ज्ञान), जिसकी ताकत स्वसंवेदन से पकड़ने की है। वह ज्ञायकमूर्ति है, अकेला ज्ञान का पुंज प्रभु है, - ऐसा जो सम्यग्ज्ञान-श्रुतज्ञान, वह आत्मा के आश्रय से प्रकट होता है। इसलिए आत्मा के आश्रय बिना श्रुतज्ञान प्रकट नहीं होता और श्रुतज्ञान प्रकट हुए बिना, उसके-प्रमाणज्ञान के जो दो भाग नय, वे नहीं हो सकते। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, परन्तु यह है ऊँची ! ऐ... भाई ! अभी यह बड़ी गड़बड़ है न ? अभी अनादि की गड़बड़ ऐसी की ऐसी चलती है।

कहते है कि - भगवान आत्मा जो ज्ञान की मूर्ति चैतन्यस्वभाव, उसका अन्तर में सम्यक् आश्रय होकर, साथ में दर्शन तो हुआ; परन्तु यहाँ नय की व्याख्या करनी है - निश्चय और व्यवहार। निश्चय और व्यवहार। इसमें आत्मा ज्ञानस्वरूप सत्, सत्व स्वरूप, ज्ञान का सत्व आत्मा है, आनन्द का सत्व आदि अनन्त गुणों का एकरुप, उसका ज्ञान होने पर उसे भावश्रुतज्ञान कहा जाता है और प्रथम वह भावश्रुतज्ञान न होवे तो उसे नय नहीं हो सकता। व्यवहार और निश्चय नय, ये श्रुतज्ञान के दो पहलू है, दो भाग है। एक श्रुतज्ञान होता है, उसके

दो भाग है। समझ में आया ? जैसे शरीर होवे तो उसके दो पहलू होते है – दायां और बायां। इसी प्रकार भावश्रुतज्ञान होता है, उसके दो पहलू है – एक निश्चय और एक व्यवहार। समझ में आया ? सूक्ष्म पड़ता है न ?

आत्मा है, आत्मा वस्तु है न ? तो अनन्त अनन्त गुणरत्न का सागर है। वह तो कल कहा गया था न ? कल सवेरे बहुत कहा गया था। समझ में आया ? वह महारत्न है, वह तो महा-महा रत्न है, क्योंकि यह जो सम्यक् रत्न है, निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, वे स्वद्रव्य के आश्रय से प्रकट होते हैं, उन्हे रत्नत्रय कहते हैं। उस रत्नत्रय का फल केवलज्ञान आदि अनन्त गुण की पर्याय है, तो केवलज्ञान आदि अनंततगुण की पर्यायें तो महारत्न हुई। और केवलज्ञानादि एक-एक महारत्न हैं – ऐसी अनन्त केवलज्ञान की पर्यायोंरूपी रत्न एक ज्ञानगुण में इतने अनन्त रत्न पड़े हैं। वह ज्ञानगुण तो महारत्न से महारत्न बड़ा हुआ और ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का पिण्ड, वह द्रव्य; वह तो महा... महा... महा... रत्न हुआ। समझ में आया ? ऐसे भगवान महारत्न के आश्रय से जो सम्यक् श्रुतज्ञान – जो सम्यक् श्रुतज्ञान, जो सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न (प्रकट हुआ, उसे) अब यहाँ रत्न कहना है न ? भावश्रुतज्ञान, वह निश्चय ज्ञान है न ? मोक्षमार्ग में दर्शन, ज्ञान और चारित्र निश्चय, वह मोक्षमार्ग है। वह तीन रत्न है; तो श्रुतज्ञान रत्न है न ? महा नही, अभी रत्न कहा न... उसे महारत्न कहा इसलिए, अपने को बोल डालना ऐसा नहीं चलता।

महा तो आत्मा कहा। एक समय में पूर्ण बड़ा महाप्रभु है। उसमें से प्रकट हुआ श्रुतज्ञान, वह मोक्षमार्ग का एक रत्न है, मोक्षमार्गरूप एक रत्न है। उसका फल केवलज्ञान रत्न है। यहाँ तो मार्ग की व्याख्या लेना है न ? तो मार्ग प्रकट हुआ श्रुतज्ञान से। सम्यग्दर्शन और चारित्र साथ है, परन्तु हमें यहाँ नय की व्याख्या करनी है न ? इसलिए जो भावश्रुतज्ञान प्रकट हुआ – तब उसके दो भाग – निश्चय और व्यवहारनय होते हैं; इसलिए पहले व्यवहार और बाद में निश्चय – ऐसा वस्तु स्वरूप में नहीं हो सकता। समझ में आया ?

पहले व्यवहार (बाद में) निश्चय (एसा) उसमें नहीं हो सकता। केवलज्ञानी का निर्णय करो कि –

**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।**
**सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥**

वहाँ दर्शन की व्याख्या से बात ली है। भगवान सर्वज्ञ की एक समय की पर्याय है; द्रव्य और गुण तो सामान्य है। सर्वज्ञ की पर्याय में ऐसी ताकत है। अनन्त केवलज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि; उस पर्याय का जहाँ निश्चय करने जाते हैं, तब भले उन अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय(का) विकल्प में ख्याल लिया, परन्तु उसे व्यवहार कब कहा जाता है ? उससे हटकर और आत्मा '**अप्पाणं जाणदि**' - आत्मा अखण्ड ज्ञायक चैतन्यस्वरूप है - ऐसा जहाँ जाने, वहाँ उसे दर्शनमोह का नाश होकर समकित होता है। समकित हुआ, (उसके) साथ भावश्रुतज्ञान होता है। उसमें भी आगे-पीछे नहीं रहा कि पहले राग था (- ऐसा नहीं)। पहले श्रुतज्ञान का विकल्प भले ही था, उसे 'परमात्मप्रकाश' में नैगमनय से (कारण) कहा, परन्तु वास्तव में वह कारण नहीं है। कारण तो यहाँ '**अप्पाणं**' जाना, ज्ञायक चैतन्यस्वरूप हूँ - ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जाना, तब उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान और श्रुतज्ञान हुआ, प्रमाणज्ञान हुआ। यह प्रमाणज्ञान हुआ, वह स्व को जाने, वह निश्चय और फिर राग बाकी रह गया, व्यवहाररत्नत्रय का राग रहा, उसे जाने, वह व्यवहार; परन्तु यह जाने निश्चय, तब व्यवहार साथ हुआ। समझ में आया ? सूक्ष्म बहुत, भाई ! इसमें विवाद उठा है। इसमें लिखावट में भी बहुत जगह (आता है कि) पहले व्यवहार की प्राप्ति होती है, फिर निश्चय तो उसमें आ जाता है; उसकी प्राप्ति के लिए अलग पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है - ऐसा इसमें लिखा है। परन्तु निश्चय के बिना व्यवहार कहना किसे ? सुन न !

अनादि काल से परसन्मुखता के विकल्प तो अनन्त बार किये। शास्त्र सम्बन्धी, श्रद्धा सम्बन्धी, व्रत सम्बन्धी... समझ में आया ? परन्तु स्वभूमिका का पता चले बिना उसको व्यवहार कहना किसे ? वस्तु पूर्ण है, एक समय में अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य है। उसकी दृष्टि और ज्ञान (की) सम्यक् भूमिका प्रकट हुए बिना उसे (राग को) यह व्यवहार है - ऐसा आरोप कहाँ से आयेगा ? यों तो अनादि से परविकल्प तो किया ही करता है। नौंवे ग्रैवेयक गया तो व्यवहार श्रद्धा... भले निश्चय बिना व्यवहाराभास है - श्रुत का व्यवहार ज्ञान, नव-नव पूर्व का ज्ञान और पंच महाव्रत के परिणाम, यह व्यवहार नहीं हुआ; क्योंकि जहाँ नय ही

नहीं है, वहाँ व्यवहार आया कहाँ से ? अकेला पुण्यबन्ध हुआ, मिथ्यादृष्टि के साथ, मिथ्याज्ञान के साथ। समझ में आया ? ऐसे परसन्मुखता के व्यवहार ज्ञान के निश्चयरहित के विकल्प (किये), उन्हें व्यवहार भी लागू नहीं पड़ता। व्यवहार लागू (नहीं) पड़ता। यह सब नौंवे ग्रैवेयक (गये, तब) नव पूर्व का ज्ञान पंच-महाव्रत, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा उसने की है; नहीं की - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? उसे मोक्षमार्ग प्रारम्भ नहीं हुआ।

यहाँ स्वसत्ता चैतन्य भगवान का अवलम्बन किया, उसका ज्ञान प्रमाणज्ञान हुआ, इसलिए यहाँ निश्चय को जानना, उसका नाम यथार्थ (कहा), व्यवहार को जानना, उसका नाम उपचार ज्ञान कहा, इसलिए व्यवहार पहले, निस्चय बाद में - ऐसा वस्तु में नहीं हो सकता। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं कि '**उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।**' समझ में आया ? किसे ? अशुद्धपना, राग बाकी रहा; शुद्ध का भान हुआ, तब अशुद्धपने का राग बाकी रहा, उस अशुद्ध को अशुद्ध व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ निश्चय-शुद्ध को शुद्ध-सत्यार्थ मोक्षमार्ग कहते हैं और अशुद्ध को गौणरूप से असत्यार्थ मार्ग कहते हैं। इस प्रकार (है)। अन्यथा वस्तु स्थिति किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। नहीं ज्ञान सिद्ध होता; नहीं नय सिद्ध होते; नहीं निश्चय सिद्ध होता; नहीं व्यवहार सिद्ध होता। समझ में आया ? इसीलिए तो वे श्वेताम्बर (के साधु) कहते हैं - 'निश्चयनय पहले कहे, पीछे ले व्यवहार।' परन्तु वह ऐसा ही है, पीछे ले क्या ? निश्चय होवे तब ही उसे (राग को) व्यवहार कहा जाता है। दूसरा व्यवहार कहना किसको ? यह बात तो (उस साधु ने कही है और) ८४ बोल का दिगम्बर का दोष निकाला है। है ? (ऐसा कहते हैं), तुम्हे कुछ पता नहीं होता। समझ में आया ?

अरे...! स्व चैतन्य भगवान, अकेली चैतन्य धातु, जिसने अनादि-अनन्त धारण कर रखी है - ऐसा तत्व, ऐसे चैतन्य के अन्दर में एकाग्र हुए बिना इस चैतन्य का भावश्रुत का अंकुर फूटेगा कहाँ से ? कुछ समझ में आया ? भावश्रुतज्ञान का अंकुर उस भूमिकामें से प्रकटता है। कहीं राग के विकल्प में से ज्ञान नहीं आता। क्या कहा ? दया, दान, व्रतादि शुभराग है न ? या बाह्य शास्त्रज्ञान व्यवहार, वह सब विकल्प-राग है, उसमें से यह अंकुर नहीं आता। उस अंकुर में-राग में वह ताकात कहाँ है ? समझ में आया ? भाई ! बहुत सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म !

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का सागर अनन्त गुणों का रत्नाकर चैतन्य-रत्नाकर प्रभुमें से अंकुर उगा। एकाग्र होने से अंकुर उगा, उसे भावश्रुतज्ञान कहते हैं। उसके साथ दृष्टि हुई, उसे सम्यक् कहते हैं, उसके साथ स्थिरता हुई, उसे चारित्र कहते हैं। भाई ! कहते हैं - राम, राम... राम.. राम... राम करो जाओ ! भजन करो, जाओ, आत्मसाक्षात्कार हो जाएगा। कहो, समझ में आया ? भाई ! वह राम-राम अर्थात् आत्मा राम। 'निजपद रमे सो राम कहीए।' 'आनन्दघनजी' ने ऐसा कहा है। 'निजपद रमे सो राम कहीए।' दूसरा राम कौन ? अपने अखण्ड आनन्द ज्ञायकस्वरूप में एकाग्र होवे, उसे राम कहा जाता है। उस आत्मा राम को जानने पर जो ज्ञान प्रकट होता है, उसे भावश्रुतज्ञान का अंकुर-प्रमाणज्ञान कहा जाता है। और वह प्रमाणज्ञान, जैसा केवलज्ञान प्रमाण है, वैसा ही यह श्रुतज्ञान प्रमाण है। जैसे केवलज्ञान प्रमाण है, वैसे यह श्रुतज्ञान प्रमाण है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है। श्रुतज्ञान में भी केवलज्ञान की तरह ही सभी वस्तु व्यवस्थित दिखती है, उसे जैसे जानता है; वैसे श्रुतज्ञान भी प्रमाणज्ञान द्वारा स्व का पूर्णपना और प्रत्येक पर्याय का क्रमपना वह श्रुतज्ञान में भलीभाँति जैसा है, वैसा जानता है, उसे आगे-पीछे नहीं होता। ऐसे श्रुतज्ञान के दो भाग पड़े कि जो निश्चय को जानता है, उसे सत्यार्थ ज्ञान कहा जाता है; व्यवहार को जानता है, उसे उपचार ज्ञान और आरोपित ज्ञान कहा जाता है। वह व्यवहारनय कहलाता है।

अब, यहाँ लिखावट में यह बात लेनी है कि (भावार्थ) :- १. '**सम्यक्चारित्र...**' आत्मा में शुद्ध स्वरूप की रमणता (होवे), वह क्या चीज़ है कि जिसमें रमना है ? उस चीज़ की श्रद्धा और ज्ञान बिना उसमें स्थिरता नहीं हो सकती। क्या कहा, कुछ समझ में आया ? सम्यक्चारित्र अर्थात् स्थिरता; स्वरूप में स्थिरता... परन्तु स्वरूप क्या है ? ऐसे स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान के बिना स्थिरता नहीं हो सकती। भाई ! अद्भुत बात, भाई !

भगवान आत्मा अकेले ज्ञान की खान है। समझ में आया ? 'श्रीमद्' तो एक बार कहते हैं - अरे... ! इस अचित् धातु का आभास तो देखो ! ऐसा कहा। विकल्प आदि उठते हैं न ? अचिद् धातु (है) और यह चिद् धातु है। भगवान अकेली ज्ञान की धातु.. ज्ञान को धारण की हुई चीज़ ऐसा। ऐसे भगवान आत्मा में स्थिरता कब हो सकती है ? स्थिरता। चारित्र कहो, चरना कहो, रमना कहो, भोजन करना कहो - यह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक ही होता है।

अर्थात् ? कि यह स्वरूप शुद्ध पवित्र है – ऐसा अन्तर दर्शन – श्रद्धा हुई, उसका ज्ञान हुआ, तब उसमें स्थिर हुआ जा सकता है। अभी दर्शन–श्रद्धा, ज्ञान के बिना स्थिरता नहीं हो सकती। समझ में आया ? सम्यक्चारित्र अर्थात् सच्ची रमणता, सच्ची लीनता; तो लीनता किसमें करना ? किसमे हुई ? जो चीज़, जिसमें लीनता हुई, वह चीज़ – स्वरूप आत्मा अखण्डानन्द प्रभु है; उसके दर्शन और ज्ञान बिना उसमें लीनता नहीं हो सकती। कहो, ठीक है ? है इसमें, लिखा है ?

**'जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है।'** निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ अर्थात् यह चीज़ शुद्ध अखण्ड है – ऐसी रुचि – दृष्टि प्रकट हुई, उसके साथ ही उसका ज्ञान सच्चा होता है। समझ में आया ? दर्शन कारण है, ज्ञान कार्य है, तथापि दोनों एक समय में (साथ में है।) यह वस्तु शुद्ध चैतन्य ज्ञानपुंज है – ऐसी जहाँ प्रतीति हुई, तब प्रतीति के साथ सम्यग्ज्ञान, उसके स्वज्ञेय को पकड़ने का ज्ञान साथ में होता है, उस ज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं। समझ में आया ? यह तो वस्तु ऐसी है न ?

यहाँ से (बात) उठाई है। तीसरी ढाल (यहाँ से) शुरु की है। **'जो सत्यारथरूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।'** यहाँ से शुरुआत की है। दो कहा सही, द्विविध विचार करने को कहा, जानने को कहा, परन्तु एक सत्यार्थ को सत्यार्थरूप से जानना और अशुद्ध को अशुद्धरूप से गौणरूप से, उपचाररूप से जानना – ऐसा कहा। पाठ में ही यह भरा है। है या नहीं ? यह पुस्तक तो सबके हाथ में है। ऐ...ई..! है या नहीं इसमें ? ऐसा अर्थ सुना था या नहीं ? पढ़ा था या नहीं ?

**'निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ...'** अर्थात् ? आत्मा अनन्त गुण का पवित्र धाम है – उसका निर्णय हुआ; उसका हुआ निर्णय, निर्णय के साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है, क्योंकि निर्णय, वह कारण है और ज्ञान, वह कार्य है, तथापि उस कारण–कार्य का सम्बन्ध एक समय में है। समझ में आया ? जैसे दीपक और प्रकाश एकसाथ होते हैं, परन्तु दीपक कारण कहलाता है और प्रकाश कार्य कहलाता है; तथापि पहले – बाद में नहीं है, फिर भी दीपक को कारण कहते हैं और प्रकाश को कार्य कहा जाता है। इसी तरह आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्ध पवित्र है, यह आत्मा अनाकुल आनन्द का धाम है, उसका अन्तर निश्चय... निश्चय... निश्चय...

निर्णय, सम्यक् अनुभव हुआ, उसके साथ जो ज्ञान होवे, उसे सम्यग्ज्ञान-श्रुतज्ञान कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह तो 'छहढाला' में है। ऐ..ई ! यह है या नहीं ? तुमने कितनी बार रट लिया ? घण्टी लाओ, पड़ लाओ, एक घण्टी का पड़ पड़ा रहा, दूसरा लाओ (- ऐसा कहे) परन्तु यह घण्टी का पड़ तो पहले पहिचाने, निश्चय चक्र यह है और विकल्प का चक्र दूसरा व्यवहार अशुद्ध है।

**'सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है और निश्चयनय तथा व्यवहारनय, दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव (अंश) है...'** क्या कहा ? आत्मा के निश्चय में आया, निर्णय में आया, नियमरूप जो सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ; नियमरूप अर्थात् निश्चय (आया कि) यह शुद्ध निर्विकल्प आनन्द ज्ञान है। आत्मा अकेला ज्ञान का पुंज है। 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान' आता है न ? श्रीमद् में ! 'देह भिन्न केवल चैतन्य' - अकेला चैतन्य, अकेला चैतन्य... अकेला चैतन्य, (उसका) ज्ञान। उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। उस श्रुतज्ञान के दो भाग - एक निश्चयनय, एक व्यवहारनय। दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश अवयव है। कहो, ठीक है।

**'इसलिए मिथ्यादृष्टि को निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकता।'** जहाँ तक इसकी रुचि पुण्य-पाप के राग में, अस्तित्व दृष्टि पड़ी है, पुण्य-पाप के विकल्प के प्रेम में - रुचि में, आसक्ति में, लीनता में रुचि पड़ी है, तब तक इसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सही है ? और सम्यग्ज्ञान नहीं होता, इसलिए निश्चय और व्यवहार... उसके दो पहलू नहीं होते। वस्तु ही नहीं है, वहाँ दो पहलू कहाँ से लाना ? **'इसलिए व्यवहारनय प्रथम होता है और निश्चयनय बाद में प्रकट होता है - ऐसा माननेवाले को नयों का स्वरूप...'** अथवा वास्तविक दृष्टि का पता नहीं है। आता ही नहीं, परन्तु आवे कहाँ से ? भाई ! समझ में आया ? आहा..हा..! चाहे जितना जानपना हो, या पंच महाव्रत का विकल्प (हो), वह तो सब बहिर्मुख घोलन है, वह तो बहिर्मुख है। इस प्रकार अन्तर्मुख की सत्ता भगवान, महा अनन्त सत्ता आत्मा की है। वह जब तक दृष्टि में नहीं आवे, तब तक उसे नय का ज्ञान (नहीं होता)। प्रमाणज्ञान नहीं है तो फिर नय कहाँ से आये ? समझ में आया ? इसलिए जिसकी दृष्टि पुण्य और पाप की रुचि में पड़ी है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता; इसलिए उसे निश्चय और व्यवहार, ज्ञान के दो अंश भी नहीं होते। समझ में आया ? आहा..हा..! भारी विवाद... यह एक बोल हुआ।

दूसरा (बोल) :- '**(२) तथा नय निरपेक्ष नहीं होते...**' अर्थात् क्या ? यह तो ऊपर आ गया है कि प्रमाणज्ञान हो, वहाँ दोनों नय साथ ही होते हैं; अकेला नहीं होता। निरपेक्ष अर्थात् व्यवहार होवे और निश्चय न होवे और निश्चय होवे और व्यवहार न होवे, नीचे की बात है, हाँ ! ऊपर की बात नहीं है। '**निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट हुए पहले...**' अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य के अन्तर्मुख की निश्चयदृष्टि किये बिना, अन्तर को पकड़े बिना, जो अनादि से बाह्य को पकड़ा है, शुभाशुभरागादि, बाह्य शास्त्रज्ञान... उसमें से अन्तर को पकड़े बिना उसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता; अतः सम्यग्दर्शन से पहले यह व्यवहारनय होवे तो निश्चयनय की अपेक्षा रहित हुआ। समझ में आया ? पहले व्यवहार कहो तो निश्चय नहीं तो व्यवहार किसे कहना ? सूक्ष्म बात है ! यह पूरा विषय ही (सूक्ष्म है)।

दो कहा न ? सत्यार्थ सम्यग्दर्शन, वह निश्चय; उसके समक्ष असत्यार्थ, मिथ्या, झूठा, अशुद्ध, गौण, निमित्तकारण, उसे व्यवहार कहा जाता है। समझ में आया ? तो जहाँ निश्चय-स्वआश्रित दृष्टि नहीं हुई, उसे पराश्रित राग का ज्ञान पहले कहना और स्व का बाद में कहना - ऐसा नहीं हो सकता। कहो, इसमें समझ में आया ? '**तथा प्रथम अकेला व्यवहारनय होवे तो अज्ञानदशा में...**' सम्यग्ज्ञान माना पड़ेगा। जहाँ अन्तर्मुख दृष्टि हुई नहीं और अनादि का बहिर्मुखता का झुकाव है, उसे सम्यग्ज्ञान मानना पड़ेगा, व्यवहार को प्रथम कहो तो... परन्तु बहिर्मुखता के अकेले भाव में व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता।

'**निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत (आप्तमीमांसा, श्लोक १०८) ऐसा आगम का वचन है।**' परन्तु न्याय से भी उसे जानना या नहीं ? बहिर्मुखता के अकेले विकल्प को व्यवहार कहो, तब तो यहाँ निश्चय तो नहीं है और अकेला व्यवहार रहा; निरपेक्ष हो गया। व्यवहार अकेला निरपेक्ष (हुआ)। निश्चय की अपेक्षा रहित का व्यवहार रहा, तो मिथ्या हो गया। समझ में आया ? प्रथम व्यवहार कहो - परलक्ष्यी ज्ञान, परलक्ष्यी राग - उस व्यवहारचारित्र को यदि व्यवहार कहो तो अकेला रहा, निश्चय तो आया नहीं; निश्चय रहित नय अर्थात् निरपेक्ष (हुआ) तो मिथ्या हुआ। वह मिथ्या है, इसलिए नय नहीं है। उसे (नय) नहीं हो सकता, भाई ! समझ में आया ? सूक्ष्म (है)। व्यापार करके 'मुम्बई' गये थे न ? वहाँ

फँसे तो यह समझ में नहीं आयेगा। आहा.. !

'**इसलिए अज्ञानदशा में...**' अर्थात् बहिर्मुख की दृष्टि के विकल्प के ज्ञान में कभी नय हो नहीं सकता; अर्थात् व्यवहारनय हो नहीं सकता। व्यवहाराभास है। अर्थात् कि वस्तु के भान बिना अकेले विकल्पात्मक ज्ञान में, विकल्पात्मक राग की श्रद्धा में व्यवहाराभास कहा जाता है और यहाँ जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ और वहाँ व्यवहार विकल्प आदि न होवे तो निश्चयाभास कहा जाता है। जो पूर्ण नहीं हुआ, वहाँ विकल्प - व्यवहार तो होता है और वह कहे कि हमे वह विकल्प नहीं होता तो वह भी निश्चयाभास कहा जाता है; क्योंकि यथार्थ निश्चय प्रकट हुआ हो तो उसे विकल्प आदि भाव निमित्तरूप से, केवलज्ञान न हो, तब तक हुए बिना रहते नहीं। इसलिए कोई कहे कि हमे व्यवहार नहीं होता, तो निश्चयाभास हो गया। निश्चय न होवे तो व्यवहाराभास हो गया व्यवहाराभास अर्थात् मिथ्या। निश्चय मिथ्या और व्यवहार मिथ्या। समझ में आया ?

समझना... समझना... और समझना। आत्मा ही समझ का पिण्ड है। केवलज्ञान समझ है, श्रुतज्ञान भी समझ है और आत्मा समझ का पिण्ड है। आहा..हा.. ! ज्ञान का पिण्ड, ज्ञान का झोकड़ा है। भगवान ज्ञानरत्न का पूर्ण झोकड़ा है। आहा..हा.. ! अन्तर में उसका ज्ञान प्रकट हो, तब उस विकल्प को - व्यवहार को उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय के बिना व्यवहार कैसा ? और व्यवहार के बिना निश्चय कैसा ? नीचे, हाँ ! पूर्ण हो गया और तो फिर प्रमाण पूरा हो गया। समझ में आया ?

इसलिये कहते हैं - '**(३) जीव निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) प्रकट करे...**' देखो ! भगवान आत्मा चैनत्यमूर्ति जो रागरहित चीज़ है, जो आस्रवतत्त्व - पुण्य-पाप के हैं और अजीवतत्त्व - कर्म, शरीर है - उनसे रहित वह चीज़ है। उनसे रहित चीज़ में आस्रव नहीं है। ऐसी चीज़ का सम्यग्दर्शन-ज्ञान करे, तब वह आस्रव-विकल्प जो निमित्तरूप से व्यवहार आता है, तब उसे उपचार से मोक्ष का मार्ग आरोप किया जाता है। समझ में आया ?

'**तब सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व...**' देखो ! अकेले एक स्वतत्त्व का भलीभाँति भान हुआ,

तब सर्वज्ञ कथित, हाँ ! दूसरे - अन्य के कथित नहीं; क्योंकि सर्वज्ञस्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वभावी है, उसका ज्ञान हुआ, वह निश्चय हुआ; उसके साथ सर्वज्ञ द्वारा कथित नव( तत्त्व ) के भेदवाला ज्ञान, नव तत्त्व का ज्ञान, वह भेद-ज्ञान है, व्यवहार ज्ञान है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है।

'**नव तत्त्व, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा...**' सच्ची सर्वज्ञदेव, अपने सर्वज्ञ परमात्मा की श्रद्धा हुई, तब व्यवहार में दूसरे सर्वज्ञदेव ऐसे होते हैं - ऐसी उनकी विकल्पात्मक श्रद्धा होती है। समझ में आया ? यह सर्वज्ञस्वभावी अर्थात् यह तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही है। फिर ज्ञान में कम, न्यून कुछ नहीं रहता। एक ज्ञान, एक ज्ञान - ऐसा सर्वज्ञ अर्थात् पूर्ण ज्ञानस्वरूप। ऐसे आत्मा की दृष्टि हुई, तब सर्वज्ञ कथित व्यवहार के जो व्यवहाररूप नव तत्त्व, उनकी उसे विकल्परूप श्रद्धा होती है, उस व्यवहार को समकित कहा जाता है। समझ में आया ? यह तो बहुत बोल याद रखना। है या नहीं ? पुस्तक रखा है न ? भाई !

'**सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा...**' अर्थात् ? ज्ञायकस्वभाव कहा न ? अकेला ज्ञानस्वभाव भगवान पूर्ण... पूर्ण... प्रभु; उसका जहाँ सम्यग्ज्ञान, दर्शन हुआ, तब भगवान द्वारा कथित भेदवाले नवतत्त्व, दूसरे सर्वज्ञदेव, उसके साधक गुरु, उनको कहनेवाले शास्त्र, इन सम्बन्धी - परद्रव्य सम्बन्धी श्रद्धा-राग मिश्रित विचार, यह सब तो परद्रव्य हुए न ? स्वद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान हुए, तब अभी विकल्प बाकी रह गया है। जो परद्रव्य-सर्वज्ञदेव-शास्त्र-गुरु और नवतत्व की श्रद्धा का राग, उसे होता है।

'**राग मिश्रित विचार और मन्द कषायरूप शुभभाव होवे, उस जीव को जो पूर्व में था, उसे भूतनैगमनय से व्यवहार कारण कहा जाता है।**' यह किस अपेक्षा से कहा ? '**जो जाणदि अरहंत**' - कहा था न ? जो अरिहन्त को जानता है, तब अरिहन्त को ( जानने में ) पर तरफ के विकल्प थे। यह अरिहन्त ऐसे हैं; द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे हैं, ( फिर ) ऐसे हटकर अपने सर्वज्ञस्वभाव का ज्ञान हुआ, तब उस विकल्प को नैगमनय से कारण कहा गया है। समझ में आया ? प्रवचनसार में ८०वीं गाथा में कहा न ? '**जो जाणदि अरहंत,**' वे तो परद्रव्य हैं। '**दव्वत्तगुणपज्जयत्तेहिं**' उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, तब तो वह विकल्प था, वह तो पर

तरफ का विकल्प था। उसे छोड़कर अन्दर निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, तब उस विकल्प को 'उससे हुआ' – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। समझ में आया ?

यहाँ तो अपने नैगमनय को अरिहन्त के साथ मिलाया। अरिहन्त ऐसे, द्रव्य-गुण-पर्याय (ऐसे) – ऐसा पहले परसन्मुख ज्ञान हुआ, वह वृत्ति परसन्मुख है। ऐसा वह आत्मा, ऐसा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, एक समय की ऐसी ताकत है, ऐसी ताकत तो द्रव्यमें से प्रकट हुई है। मेरा द्रव्य भी ऐसा है। इस प्रकार अन्दर द्रव्य में जाकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रकट होता है, तब जो विकल्प का, व्यवहार का ज्ञान था अथवा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का उस प्रकार का राग था, उसे नैगमनय से व्यवहार कारण कहा जाता है। इसमें समझ में आया ? सब बोल ऐसे (हैं), यह तो निश्चय और व्यवहार के बोल ही सब ऐसे हैं। आहा..हा..! 'परमात्मप्रकाश' की दूसरे अध्याय की १४वीं गाथा की वह नैगमनय की टीका है। समझ में आया ?

**'तथा उसी जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग और निमित्त किस प्रकार के होते हैं...'** उसने सर्वज्ञस्वभावी जाना है, माना है, उसे विकल्प में भी सर्वज्ञ कथित तत्त्व और विकल्प और निमित्त व शुभराग ऐसा ही होता है; दूसरा नहीं हो सकता – ऐसा बताने के लिए **'उनका सहचरपना बताने को...'** विकल्प साथ होता है। भगवान सर्वज्ञ प्रभु, अकेला जाननेवाला, कहीं अटकनेवाला नहीं – ऐसा उसका स्वरूप है, चैतन्य का, हाँ ! ऐसे चैतन्य के, ज्ञायक के स्वभाव को जाना, तब उसकी भूमिका में, अभी अधूरा है; इसलिए उसका ज्ञान और विकल्प, सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व की श्रद्धा और उनके द्वारा कथित चारित्र के विकल्प की मर्यादा उस भूमिका में होती है – इतना बतलाने के लिए उसे व्यवहार कहा है। समझ में आया ? यह सब समझने योग्य है। यह छहढाला तो लड़के बहुत पढ़ते होंगे। हैं ? कहाँ गया ? यह सब पढ़ते हैं या नहीं ? वहाँ अपने पढ़ाते हैं या नहीं ? तो फिर ध्यान रखना चाहिए न इसमें क्या है ? आ..हा..! क्या कहा ?

भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी वस्तु प्रभु, यह आत्मा, हाँ ! उसका निश्चय दर्शन होने पर सर्वज्ञ कथित भेदवाले नव तत्त्व या छह द्रव्य आदि की श्रद्धा; सर्वज्ञ की श्रद्धा या गुरु-शास्त्र की श्रद्धा; जिस शास्त्र ने सर्वज्ञपना कहा, जिसे सर्वज्ञपना प्रकट हुआ या जो सर्वज्ञपना साध रहे

हैं – भाई ! इस प्रकार तीन लिये। ठीक ! सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की दृष्टि हुई, सर्वज्ञ कथित शास्त्र, शास्त्र द्वारा कथित सर्वज्ञ का स्वरूप सन्त अथवा सर्वज्ञता को साधनेवाले गुरु और सर्वज्ञपना पर, उसे ऐसे श्रद्धा-ज्ञान की भूमिका में ऐसा ही विकल्प होता है; दूसरा नहीं हो सकता। आहा..हा..! कुछ समझ में आया ?

'**उसका सहचरपना...**' शुद्ध सर्वज्ञ आत्मस्वभाव की प्रतीति के साथ ऐसे ही सर्वज्ञदेव, सर्वज्ञ के साधनवाले गुरु; सर्वज्ञपना जिन्होंने सिद्ध किया है – ऐसे शास्त्र। समझ में आया ? और उनके द्वारा कथित नव तत्त्व, उसका सहचरपना (होता है)। निश्चयसम्यग्दर्शन में ऐसे विकल्प का सहचरपना होता है – साथ होता है। सहचर – साथ में। पहले नैगमनय से कहा था। '**जो जाणादि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणादि अप्पाणं**' कुछ समझ में आया ? यह साथ में कहा था। उसे अभी राग है न ? इसलिए उस प्रकार का विकल्प (होता है।) सर्वज्ञ परमेश्वर की श्रद्धा का राग, सर्वज्ञ के साधक ऐसे गुरु का विकल्प और सर्वज्ञ को सिद्ध करनेवाले शास्त्र। शास्त्र तो सर्वज्ञपना सिद्ध करते हैं, अर्थात् वीतरागपना सिद्ध करते हैं। वीतरागपना सिद्ध करते है न ? और वीतरागपना शास्त्रका तात्पर्य है। ऐसे शास्त्र की श्रद्धा करना। ऐसे निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ऐसा सहचरपना, ऐसा ही विकल्प और ऐसा ही ज्ञान होवे, उसे व्यवहार कहा जाता है, भाई !

आज तो पोनघण्टे एक ही चला। इसमें कितना याद रखना ? मोटर का कितना याद रखते होंगे वहाँ ? मोटर के पाट्र्स... पाट्र्स कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? भाग, कितने ही पाट्र्स और कितने ही भाग; चारों ओर के याद रहते हैं। तुम्हारे लोहे का कितना याद रहता है ? आहा..हा..! इसमें बहुत नहीं है। यह है तो थोड़ा, परन्तु इसका विस्तार समझाने के लिए बहुत कहना पड़ता है। समझ में आया ? वरना तो सर्वज्ञस्वभावी प्रभु की दृष्टि होने पर उनके द्वारा कथित और वे स्वयं और गुरु की, शास्त्र की श्रद्धा का राग आवे, उसे व्यवहार कहा जाता है। लो, यह संक्षिप्त और सार ! अर्थात् उन कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र, सर्वज्ञ के अतिरिक्त के, सर्वज्ञ को साधनेवालों के अलावा, सर्वज्ञ को कहनेवाले शास्त्र के अलावा सब निकल गये। कुछ समझ में आया ?

**'ऐसा कहने का कारण यह है कि उससे अलग प्रकार का (विरुद्ध) निमित्त उस दशा में किसी को नहीं हो सकते...'** सर्वज्ञ के अतिरिक्त, सर्वज्ञ के साधक गुरु के अतिरिक्त या सर्वज्ञ और वीतरागता को सिद्ध करनेवाले शास्त्र के अतिरिक्त अन्य के देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा उसे नहीं हो सकती। अल्पज्ञ अज्ञानी के कहे हुए तत्त्वों, अज्ञानी की श्रद्धा या अज्ञानी के कहे हुए शास्त्र (इनकी श्रद्धा उसे नहीं होती)। अर्थात् शुभभाव-व्यवहाररत्नत्रय का भाव-व्यवहार होता है तो भी वह वास्तविक कारण नहीं है। सत्यार्थ कारण नहीं, उपचार कारण है, अशुद्ध कारण है, गौण कारण है। मुख्य कारण तो यह निश्चय है।

एक न्याय तो यह है। जैसे ज्ञान में सिद्ध किया, ऐसे आत्मा शुद्ध स्वरूप है। ज्ञान और आनन्द दो ही गुणों की प्रधानता आत्मा में है। आत्मा स्वयं ही आनन्दरूप है। जैसे पहले ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञस्वभाव सिद्ध किया... समझ में आया ? ऐसे आत्मा आनन्दरूप है; इसलिए आत्मा के आश्रय से सुख प्रकट हो सकता है। आनन्दरूप है, उसके आश्रय से आनन्द प्रकट होता है। राग, पुण्य और निमित्त कहीं आनन्दरूप नहीं है, स्वयं के आनन्दरूप नहीं है। पुण्य-पाप का विकल्प या निमित्त या संगपना या देव-गुरु-शास्त्र; यहाँ आनन्द है, वह आनन्द उनमें नहीं है; इसलिए यह आनन्द जो आत्मा में है, उसके आश्रय से ही आत्मा को आनन्द प्रकट हो सकता है। ठीक है ? जहाँ आनन्द है, वहाँ आनन्द की नज़र डालने से आनन्द प्रकट होता है।

जैसे ज्ञान-सर्वज्ञपना जहाँ है, वहाँ एकाकार होवे तो सर्वज्ञ की प्रतीति, ज्ञान और रमणता होती है, तो सर्वज्ञ कार्यरूप परिणमित होता है। इसी तरह आत्मा स्वयं ही आनन्दरूप है, इसलिए आत्मा के आश्रय से सुख होता है। **'परन्तु किसी निमित्त या व्यवहार के आश्रय से सुख प्रकट नहीं हो सकता।'** क्यों ? कि राग में या निमित्त में वह आनन्द नहीं है। यह आत्मा का आनन्द वहाँ नहीं है। समझ में आया ? (आज) नवमी और रविवार है।

कहते है कि आत्मा जैसे सर्वज्ञस्वभावी है तो उसके आश्रय से ज्ञान की सच्ची प्रतीति हुई और सर्वज्ञपना प्रकटे। राग में कहीं सर्वज्ञपना नहीं है तथा निमित्त में संगपने में सर्वज्ञपना नहीं है कि जिसके आश्रय से वह प्रकटे। ऐसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के अवलम्बन से अतीन्द्रिय आनन्द, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के कारण से प्रकटे।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आनन्द का ही अंश है। आहा..हा..! समझ में आया ?

वस्तु है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द सुखरूप है। सुखरूप, आनन्दरूप है तो उसके आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वे सुखरूप होते हैं। सुखरूप हों, व पूर्ण सुख को साधनेवाली पर्याय है। आनन्दरूप आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति, इस पर्याय को अपूर्ण आनन्द है। वस्तु पूर्ण आनन्द है, पर्याय अपूर्ण आनन्द है। उसे पूर्ण आनन्द का कारण होता है। उस आनन्द के आश्रय बिना पुण्य-पाप के विकल्प, व्यवहार और निमित्त में कुछ आनन्द नहीं है कि उनके आश्रय से प्रकटे। इस आनन्द के आश्रय से अंश प्रकट होता है। समझ में आया ? शुभराग है, व्यवहार जो है, व्यवहार का ज्ञान, व्यवहारिक श्रद्धा, व्यवहारिक राग में कुछ आनन्द नहीं है। आंशिक आनन्द भी नहीं है; पूर्ण आनन्द तो नहीं, आंशिक भी नहीं है। पूर्णानन्द भगवान आत्मा है। उसके आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र आंशिक आनन्द प्रकट होता है। राग और निमित्त में अंश भी नहीं है। पूर्ण नहीं और अंश भी नहीं है तो उनके आश्रय से कभी सुख प्रकट नहीं होता; इसलिए उनके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता अर्थात् पूर्ण आनन्दरूपी मोक्ष का कारण अंशराग और निमित्त नहीं हो सकता। समझ में आया ? भाई ! कितने सब बोल इसमें अन्दर समझने योग्य हैं, हाँ ! लिखा है, यह तो उसका अर्थ होता है।

सत्य सिद्धान्त क्या सिद्ध करना है ? कि भगवान आत्मा अकेला आनन्द का ही पिण्ड है। आत्मा अर्थात् अतीन्द्रिय गुण सम्पन्न। एक-एक गुण से लो तो पूर्ण गुणरूपी वस्तु है। जैसे, पहले ज्ञान से लिया तो ज्ञायक ले लिया। अब, आनन्द से लेने पर आनन्दमूर्ति है। वीर्य से (लेवे तो) वीर्यगुण की मूर्ति है। शान्ति कहो तो चारित्र की मूर्ति है। वस्तु... वस्तु एक अखण्ड। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अन्तर एकाग्र होवे तो आनन्द का अंश प्रकट होता है। वह आनन्द का अंश प्रकट होता है, उसका नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहा जाता है। और वह पूर्ण होवे तब उसे मोक्ष कहा जाता है। पर्याय का पूर्ण पर्याय में पूर्ण (मोक्ष होता है), वस्तु तो पूर्ण है, पर्याय में पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सुख आदि (प्रकट होते हैं)। समझ में आया ?

इस सुख की दशा का अंश, अंशी के अवलम्बन के बिना नहीं होता; तो वह अंशी तो पूर्ण

आनन्दरूप है। यह राग और निमित् कहीं उसका अंशी नहीं है कि उसमें से आनन्द प्रकटे या उसमें से मोक्ष का मार्ग आवे या उनसे मोक्ष हो, उनसे मोक्षमार्ग, उनसे मोक्ष हो – ऐसा नहीं है। समझ में आया ? धीरे-धीरे तो कहा जाता है। उसे विचारने में समय रहे ऐसा थोड़ा-थोड़ा (कहा जाता है)। यह तो एक-एक गुण कोई भी लो न (सब में कहा जाता है)। मुख्य तो सब जगह सुख और ज्ञान से ही आत्मा का वर्णन किया है। मांगलिक किया वहाँ (यह कहा), चिदानन्दाय नमः, समझ में आया ? क्योंकि मुख्य वस्तु ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान प्रधान वस्तु है और जगत को आनन्द चाहिए। उसमें वीर्य, श्रद्धा, शक्ति की पूर्णता यह सब उसमें आ जाता है। दूसरे प्रकार से कहे तो, श्रद्धा से कहें तो श्रद्धा नाम का गुण पूरा आत्मा में व्यापक है। आत्मा श्रद्धास्वरूप ही है, लो ! क्या कहा ?

जैसे, यह ज्ञान और आनन्द कहा; ऐसे आत्मा अकेला श्रद्धा का पिण्ड है। सम्यग्दर्शन पर्याय नहीं, श्रद्धारूप पूरा आत्मा है। उस श्रद्धारूप पूर्ण आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकटती है। यह राग और पुण्य में श्रद्धा है ? श्रद्धा का गुण है कि उसके आश्रय से श्रद्धा प्रकटी, और वह पूर्णानन्द श्रद्धा जो यहाँ प्रकटी, पूरे श्रद्धा (गुणमें से) सम्यक्श्रद्धा प्रकटी, वह पूर्ण अवगाढ़ (समकित) जो केवलज्ञान में प्रगटता है, वह इससे प्रकटता है। रागमें से प्रकटता है ? समझ में आया ? भाई ! पलाखे भी कठिन है।

मुमुक्षु :- आनन्द तो कहीं प्रभु हमे खोजने से मिलता नहीं।

उत्तर :- परन्तु यह दुःख तो खोजने से मिलता है या नहीं ? यह दुःख ज्ञात होता है, वह कृत्रिम है। इसके पीछे है, वह आनन्द – ऐसा कहते है, लो ! क्या (कहा) ? दुःख है या नहीं ? दुःख शरीर का नहीं, हाँ ! उसमें फिर चिल्लाना नहीं। इस शरीर में ठीक नहीं है – ऐसी मान्यता, वह दुःख है या नहीं ? यह दुःख है, वह कृत्रिम है। दुःख विकार त्रिकाल नहीं हो सकता। दुःख वह कृत्रिम है, विकार है, अनित्य है, अध्रुव है। उस विकार के पीछे त्रिकाल रहता है, उसे ध्रुव और आनन्द कहा जाता है। लो ! आहा..हा..!

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु यह विकृत हुआ, वह कोई चीज़ अविकृत है, उसका विकृत होता है या

अविकृत नहीं, उसका विकृत होता है ? इस लकड़ी को दुःख होता है ? कहो, इसमें दुःख होता है ? क्यों (नहीं होता) ? कि अन्दर आनन्द नहीं है। आनन्द हो, वहाँ आनन्द की उल्टी दशा - अ-आनन्द अर्थात् दुःख होता है। समझ में आया ? भाई ! इसमें समझ में आता है या नहीं ? उसे दुःख है ? किसे दुःख है ? आत्मा की पर्याय में दुःख है। दुःख, वह विकृतपना बतलाता है, आकुलता बतलाता है। वह दुःख एकरूप नहीं रहता, अर्थात् वह अनित्यता बतलाता है; एकरूप नहीं रहता इसलिए। वह अनित्यता और आकुलता कृत्रिम है तो वह कोई आनन्द त्रिकाल है, उसकी उल्टी अवस्था है। वही आनन्द को सिद्ध करती है। समझ में आया ? भाई ! लोजिक से न्याय से तो यह है।

मुमुक्षु :- दुःख। आनन्द को सिद्ध करता है।

उत्तर :- सिद्ध करता है। हाँ, दुःख का ख्याल आवे तो आनन्द दूसरा है - ऐसा सिद्ध करता है। समझ में आया ? आनन्द का ज्ञान होवे, तब दुःख का ज्ञान व्यवहार से कहा जाता है - ऐसा कहते हैं।

यह तो श्रद्धा ली; ऐसे ही प्रत्येक गुण की ऐसी शैली है। भगवान आत्मा शान्तरस का पिण्ड चारित्र है। शान्त... शान्त.. अकषाय-स्वरूप है। प्रभु आत्मा अकषाय का पिण्ड है। उसके आश्रय से अकषाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। अकषाय अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, परन्तु उस अकषाय चारित्र का आधार यह अकषाय द्रव्य होता है। विकल्प उसका आधार होता है ? (क्या) राग में अकषायपना है ? जो राग स्वयं वर्तमान कषाय हो और फिर अकषाय कार्य का कारण होगा ? इसमें कुछ समझ में आया ? यह तो निश्चय और व्यवहार दो के कार्य-कारण की बात ऐसी है। आ..हा !

कहते हैं कि आत्मा (सुखस्वरूप है)। इस प्रकार सब ले लेना, हाँ ! शान्ति, श्रद्धा... समझ में आया ? वीर्य, वीर्य की मूर्ति प्रभु है। अकेले बल की मूति है। शक्ति का पूर्ण बल ! उस बल के आश्रय से बलवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्यक् प्रकट होता है। हें ?

मुमुक्षु :- भींत हिला दे।

उत्तर :- भींत हिलावे ? भींत हिलाता होगा ? तो वह बल कहलाये ? हैं ?

यहाँ तो विकल्प में भी बल नहीं है – यह सिद्ध करना है। दूसरे को हिलाने की बात भी कहाँ है ? वास्तविक बल विकल्प में नहीं है। बलवन्त... बलवन्त.. वह क्या कहलाता है ? क्या कहलाता है उस पौधें का नाम ? कहते थे न ? वह पौधा नहीं था प्रवचन मण्डप में ? उस पौधे का नाम कहते, बल। नाम क्या ? अकेला बल ही ? दूसरा शब्द नहीं ? ऐसा कहते थे के यह बल का वृक्ष है, परन्तु दूसरा विशेष नाम था। वह बल का वृक्ष कहलाये; उसे बल कहा जाता है। हें ?

मुमुक्षु :- बल बीज।

उत्तर :- हाँ, बल का बीज होता है वह। वह वहाँ था। वैसे यह बल का बीज तो यह आत्मा है, वीर्य का पिण्ड पूरा। अकेले वीर्य की कतली भगवान है। यह वीर्य की मूर्ति, वीर्यबल जो आत्मा का है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का वीर्य प्रकट होता है। पुण्य के राग में बल है, वह उसके आश्रय से प्रकट होता है ? और उस राग में बल है कि राग के आश्रय से मोक्ष हो ? पूर्ण वीर्य। मोक्ष अर्थात् पूर्ण वीर्य। पूर्ण वीर्य इस राग के आश्रय से होता होगा ? पूर्ण वीर्य के आश्रय से हुआ वीर्य, वह पूर्ण वीर्य का कारण होता है। समझ में आया ? फिर पाँचवा बोल लेते हैं। लो ! मोक्षमार्ग तो एक ही है, उसकी व्याख्या विशेष आयेगी... ( श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

**निर्विकल्प होनेवाला जीव, निर्विकल्प होनेके पूर्व ऐसा निर्णय करता है कि मैं कभी भी रागादि भावरुप परिणमनेवाला नहीं हूँ। परन्तु ज्ञानदर्शन रूप परिणमनेवाला हूँ। अभी रागादि भाव होंगे-ऐसा जानता है, फिर भी मैं उनका स्वामीरूप होनेवाला नहीं। मेरा ऐसा प्रयत्न है कि मुझे भविष्यमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त होंगे फिर भी उस समय राग भी रहेगा, परन्तु में उसरूप परिणमनेवाला नहीं-ऐसा निश्चित है। (प्रथम) निर्णय करता है पर्यायमें, बादमें अनुभव होगा पर्यायमें। परन्तु वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं तो चिन्मात्र अखण्ड ज्योति स्वरूप हूँ, पर्याय नहीं। (परमागमसार - २९)**